ISSN 0975-119X

UGC-CARE GROUP I LISTED

वर्ष 12 अंक 6 नवंबर-दिसंबर 2020

दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

India's Leading Refereed Hindi Language Journal

IMPACT FACTOR : 5.051

गोंड राजाओं के शासन का प्रतीक : देवगढ़ का किला–प्रो० बिंदिया महोबिया 1584

प्रवासी हिंदी कथा साहित्य में स्त्री सार्वभौमिकता–नीलम सागर 1589

हिमाचल के कुल्लू जनपद की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–हेम राज 1592

हिंदी के प्रमुख दलित आत्मकथाओं का परिदृश्य–सिद्धलिंग गंगु; डॉ० सविता तिवारी 1594

गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' में चित्रित पारिवारिक सद्भाव–डॉ० बिजेंद्र कुमार 1597

सूर्यबाला जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व–प्रकाश मानू जाधव; डॉ० सविता तिवारी 1602

मुगल काल में फारसी साहित्य-संस्कृति–डॉ० मो० मोतिउर रहमान खान 1606

डाक टिकट पर पानी–विनय पटेल 1610

छत्तीसगढ़ में ई-गवर्नेंस से प्रशासनिक विकास पर प्रभाव व चुनौतियां (गरियाबंद जिले के विशेष संदर्भ में)
–अदिति तलवरे; डॉ० प्रमोद यादव 1614

आदर्श मित्र और मित्रता के सन्दर्भ में रहीम–प्रो० मन्जुनाथ एन० अंविग 1617

हिन्दी कविता में यायावर 'श्री गुरु नानक देव'–डॉ० सुनीता शर्मा 1621

जनपद अल्मोड़ा में पर्यटन का विकास, सम्भावनाएं तथा समस्याएं, कुमाऊँ हिमालय, उत्तराखण्ड–महेन्द्र सिंह; डॉ० दीपक 1627

लोक साहित्य का स्वरूप एवं वर्गीकरण : एक विश्लेषण–ममता कुमारी 1637

भूमि उपयोग का मानव जीवन पर प्रभाव : - उदयपुर जिले का एक भौगोलिक अध्ययन–कैलाश चन्द्र मीणा 1642

भारतीय इतिहास में व्यापारिक संघर्ष विशेष संदर्भ :- ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार विस्तार–डॉ० (श्रीमती) अंजू कुमारी 1645

भारत में बाल मानव अधिकारों का संरक्षण: एक अनुशीलन–सहदेव सिंह चौधरी 1650

भारत-मध्य एशिया गणराज्य: चुनौतियाँ और संभावनाएँ–गुरदीप सिंह 1655

ब्रिटिश प्रशासन और भारतीय राष्ट्रवाद : एक अध्ययन–रितेश कुमार 1659

छात्राध्यापकों के संवेगात्मक बुद्धि का अध्ययन–प्रज्ञा सिंह 1661

भारत में कृषि के विकास में कृषि प्रबंधन की भूमिका–प्रियंका 1666

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में व्यक्त दलित स्त्री चेतना–डॉ० अखिलेश कुमार वर्मा 1669

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020: सक्षमता का सबल साधन–डॉ० अनिल कुमार पाण्डेय 1672

उत्तराखण्ड में सड़क-पुल आन्दोलन में गढ़वाली पत्र की भूमिका–डॉ. मनोज सिंह बाफिला 1675

मान्यवर कांशीराम की विचारधारा का दलित कविता पर प्रभाव–मुकेश कुमार भारतीय 1680

गाँधी दर्शन में ब्रह्मचर्य की अवधारणा–दीक्षा 1686

भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रारंभिक शिक्षा के अधिकार की ऐतिहासिक समीक्षा–डॉ० शिखा चतुर्वेदी 1688

'हंस' सम्पादकीय दृष्टि और हाशिए का समाज–ममता यादव; डॉ० यशवन्त वीरोदय 1691

औपनिषदिक साहित्य में कर्म चिन्तन–डॉ० श्रीमती अर्चना 1694

कार्यस्थल पर कामकाजी महिलाओं की स्थिति का अध्ययन–प्रियंका दीक्षित; डॉ० राकेश प्रताप सिंह 1697

दलित साहित्य और प्रेमचन्द–विजय प्रकाश 1700

नव-उपनिवेशवाद एवं सांस्कृतिक विमर्श (1990 के बाद)–योगेन्द्र कुमार सिंह 1702

भारत में उच्च शिक्षा और सूचना प्रौद्योगिकी–डॉ. श्वेता रस्तोगी 1706

पंथनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा–डॉ० दीपशिखा चतुर्वेदी 1709

पर्यावरणीय संचेतना एवं नैतिक-मूल्यों का आव्यूहन–डॉ० माया शंकर 1712

परम्परा एक दृष्टि: रामविलास शर्मा–डॉ० शिवाजी 1716

माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्र एवम् छात्राओं का शिक्षा में नवाचार के प्रति अभिवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन
–सरस्वती देवी; डॉ० बिहारी सिंह 1719

नव-उपनिवेशवाद एवं सांस्कृतिक विमर्श (1990 के बाद)

योगेन्द्र कुमार सिंह

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र में सन् 1990 ई0 के बाद की कविताओं एवं उन पर नव उपनिवेशवाद के प्रभाव की पड़ताल की गयी है। कविता की संवेदना में नव-उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन कर यह देखा गया है कि स्त्री, आदिवासी और दलित विमर्श के चिंतन जगत पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अधिकतम लाभ कमाने की प्रवृत्ति और उससे उपजने वाली आम-जनमानस की राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का विरोध परिलक्षित होता है। विरोध का यह स्वर सांस्कृति चिंतन में कुछ उभयनिष्ठ प्रश्नों को समेटे हैं, जो यत्र-तत्र पाठक से टकराते रहते हैं।''

परिभाषिक शब्दावली-नव-उपनिवेशवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, भूमण्डलीकरण, संस्कृति, बाजारवाद, सांस्कृतिक विमर्श, सांप्रदायिकता, विज्ञापनवाद।

नब्बे के बाद की कविता से यह ध्वनित होता है कि एक ऐसा कालखण्ड जिसमें भारतीय समाज व्यापक परिवर्तनों से गुजर रहा है और उन सभी परिवर्तनों की बानगी इन कविताओं में स्पष्ट दिखायी दे रही हैं। कविता या साहित्य की कोई भी अपने परंपरागत ढांचे पर ही विकास की यात्रा तय कर रही होती है और वह अपने समाज और समय का अखबारी दस्तावेज नहीं होती। यही कारण है कि परिवर्तन अचानक दिखने प्रारंभ नहीं होते। कविता में सन् 1990 ई0 की कोई सीमा रेखा नहीं है। साठोत्तरी या नई सदी, इक्कीसवीं सदी आदि की कई कालगत रेखाएँ खींची गयी हैं। यह रेखाएं आलोचकों, पाठकों और विद्यार्थियों द्वारा अध्ययन की सरलता के लिए खींची जाती हैं। जैसे साठोत्तरी कविता, भूमण्डलीकरण के बाद की कविता और इक्कीसवीं सदी की कविता। इन तीनों की संवेदनाओं में एक प्रकार की रचना प्रक्रिया एवं संवेदन की संयुक्त अभिव्यक्ति दिखायी देती है। जैसे वर्तमान समय की कविता 'दिल्ली' इसके पहले दिल्ली पर लिखी गयी अनेक कविताओं की परंपरा का निर्वाह करती है। कवि उपेन्द्र कुमार लिखते हैं-

''हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ जैसे अनेकानेक
मिथकों की थाती
अपने खजाने में सजाए इतराती दिल्ली
प्रजा पर रौब गाँठती उनसे ही भय खाती दिल्ली।''[1]

प्रश्न उठता है कि फिर आवश्यकता ही क्या है? इन काल विभागों की। दरअसल बदलते हुए मौसम की भांति कविता का भी उपछाया प्रदेश होता है। जहाँ परिवर्तन का आंशिक स्वर पहले कहीं सुनाई देता है किन्तु धीरे-धीरे वह गहराता जाता है और भविष्य में चीख में परिवतर्तित हो जाता है। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श आजादी के बाद भी मिले-जुले रूप में साहित्य की धाराओं में दिखता था, किन्तु बाद में वह मुख्य धारा का आन्दोलन बन गया। जैसे ईश्वर की भक्ति में डूब कर जीवन की समस्याओं से निजात पाने की मध्यकालीन प्रकृति आगे आकर ठेढी पड़ गयी, किन्तु आज भी पूरी तरह समाप्त नहीं हो पायी है। दरअसल नब्बे के बाद की कविता साहित्य के मंद स्वरों में स्पष्ट वाणी और नयी सदी में आते-आते चीख में बदल जाने की दृष्टि से समझी जा सकती है। सन् 1990 ई0 के बाद की कविता के बदलाव अपने समय की परिस्थितियों से इस प्रकार प्रभावित होते हैं, ''यों उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी और उत्तर उपनिवेशवाद स्वतंत्र व्यवहार या अलग-अलग परिपक्व हिस्से नहीं बनते अपितु एक ही तरह की शोपण मूलक व्यवस्था के अलग-अलग पड़ाव है। यानी पूँजी के चेहरे बदल जाते हैं। व्यवस्था निरंतर चालाक और कठोर होती चली जाती है। शोषण को विकास का दर्जा मिल जाता है।''[2] विकास के नाम पर होने वाले अन्याय की बानगी बाबुषा कोहली की पंक्तियाँ देती हैं-

''कुछ लोग।
कुछ मूरख लोग आखिर क्यों नहीं समझते
कि लम्बी-लम्बी सड़कें खोदने के लिए
छोटी-छोटी कब्रें खोदना जरूरी हो जाता है।''[3]

एक ही तरह की शोषण मूलक व्यवस्था को अलग-अलग रूपों में कविता ने व्यक्त किया है। शोपण की यह व्यवस्था नव-उपनिवेशवादी तत्वों से मिलकर बनी है और रूढिघात तत्वों से भी मिलकर। भूमण्डलीकरण केन्द्रित नव-उपनिवेशवादी व्यवस्था के आगमन से ऐसा नहीं हुआ कि परंपरागत रूप से समाज में व्याप्त शोषण के तंत्र बदल गए बल्कि वह तो उपस्थित ही रहे और उनमें नये रूपकों का संकलन अलग से और हो गया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत

संघ के विघटन और अमेरिकी वर्चस्व, इराक अफगानिस्तान में अमेरिकी हस्तक्षेप और आंतरिक स्तर पर दो-दो प्रधानमंत्रियों की हत्या ने जनता की सुरक्षा भावना को कमजोर किया। मंहगाई ने भी लोगों का जीना मुश्किल कर दिया। इसी के सापेक्ष कविता के लिए एक नया धरातल बनने लगा। उसी को लीलाधर मण्डलोई ने लिखा है, ''दरअसल 1990 में रूस में जो हुआ, वह विचार धारा का नहीं व्यवस्था का विघटन था, जिसे 'ग्लास्नोस्त' के नाम पर होने से अधिक जानबूझकर सम्भव किया गया। हिन्दी कविता तब मूलत: प्रगतिशील और जनवादी थी। उसका स्वर प्रखर था। उसमें वैचारिक, राजनैतिक चेतना का आवेग था, जिसे हम प्रतिरोध की भाषा में पढ़ रहे थे। यह यकीनन मंद पड़ गया...सोवियत संघ के विघटन के बाद इन कवियों में भी काव्य स्वर का बदलना देखा जा सकता है। दरअसल उक्त विघटन के बाद उनके स्वर खास तौर पर आलोक धन्वा, राजेश जोशी, अरुण कमल में वह आवेग और ताप कम हुआ जो पूर्व में विद्यमान था। इन कवियों ने भी जीवन समाज और प्रकृति के उन विवरणों की तरफ देखना शुरू किया जो नवें दशक के कवियों में आ रहा था।''[4]

मण्डलोई जी के द्वारा कवि एवं कविता का मिजाज बदलने की प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय कारणों में भले देखा गया हो किन्तु उसके पीछे घरेलू कारणों की भी शुमारी होनी चाहिए। समाज और समय की चाल में दो सौ वर्षों के बाद भक्ति की प्रवृत्ति भी थकने लगी थी। दरअसल नब्बे के बाद जिन परिस्थितियों ने अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिवेश का निर्माण किया, उसकी मूल चिंता अपने रास्तों से भटककर एक ही मृगमरीचिका में जाकर उलझ जाने की थी। बाजार और भूमण्डलीकरण ने भारतीय समाज के सभी सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक प्रतीक छीनने शुरू कर दिये। जब कोई वस्तु छीनी जाने लगती है तो उसके प्रति स्वाभाविक मोह पैदा होता है। अरुण कमल और राजेश जोशी जैसे कवियों में उन्हीं प्रतीकों को बचाने के लिए अपनी धरोहरों और प्रतीकों से लगाव की प्रवृत्ति दिखती है, न कि मार्क्सवादी चेतना से ऊब कर स्वर के मंद पड़ जाने की प्रवृत्ति।

वंचितों और पीडिघ्तों पर साहित्य में मार्क्सवाद के उदय एवं भारत में समाजवाद के आगमन और प्रगतिवादी आन्दोलन के पहले भी लिखा जा रहा था। बदलती प्राथमिकताओं और किसान व मजदूरों की संघर्ष चेतना को 'वर्ग संघर्ष' और 'सर्वहारा' के नये नाम और तेवर से लिखना बाद में शुरू हुआ। जैसे यह परिवर्तन हुए उसी रूप में लोगों के बीच से संस्कृति के मूल विचार के पलायन और भारतीय अस्मिता का अमेरिकीकरण हो जाने के खतरे के कारण इन कवियों ने अपनी कविता में एक ओर भूमण्डलीकरण के दुष्प्रभावों का विरोध साधा तो दूसरी ओर अपनी कविता में प्रकृति और संस्कृति के तत्वों की स्थापना प्रारम्भ कर दी। प्रो0 अरूण होता की बात उल्लेखनीय है, ''भूमण्डलीकरण के नाम पर अपने उदात्त सांस्कृतिक वैविध्य को समाप्त करने की भी साजिश रची जाने लगी। एक ही तरह के खान-पान, वेश-भूषा, भाषा-जीवन पद्धति आदि को प्रमोट करते हुए भूमण्डलीकरण ने भारतीयता को उखाड़ फेंकने का भी षड्यंत्र रचा है।''[5]

नव-उपनिवेशवाद ने आर्थिक हितों के लिए प्रत्यक्षत: तो संस्कृति पर आक्रमण किया ही, किन्तु परोक्ष रूप से समाज अचानक अराजक होने लगा। एक उदाहरण यही है कि काम कुण्ठाएं आदिम है, किन्तु नयी सदी के यूट्यूबिया कल्चर और 'पार्न साइट्स' की सुलभता ने इन कुंठाओं को और उत्तेजित किया। मिस यूनिवर्स जैसी प्रतिस्पर्द्धाओं, फिल्मों के रुपहले काम दृश्यों तथा विज्ञापन की लगभग नंगी तस्वीरों ने लोगों के भीतर काम प्रच्छन्नताओं के महालोक का निर्माण किया। हालिया रेप की बढ़ती घटनाओं को इस चश्मे से देखना बेहद जरूरी है। परिस्थितियों में बदलती संवेदनशीलता और समाज रचना के गुंफन को 'बदरी नारायण' ने इस तरह दिखाया है, ''नब्बे के दशक का समय तो और भी चुनौतीपूर्ण हो गया। सच एवं यथार्थ जितना नब्बे के पहले साफ दिख रहा था, नब्बे के बाद उतना ही जटिल हो गया। अत: अपने समय से मुठभेड और ज्यादा संश्लिष्ट हो गयी। परिणामत: नब्बे के दशक के बाद की कविता में एक तरफ पहले से चली आ रही साहित्यिक प्रवृत्तियों के मेटा नरेटिव टूटें, दूसरे, समय की समझदारी अत्यंत जटिलता के साथ रचनाओं में आने लगी। सामाजिक एवं मानवीय मूल्य जैसे प्रेम, करुणा, मानवीयता, संवेदना, सब भयानक संकट में दिखायी पड़ने लगे। फलत: मानवीय संबन्धों और समाज की आलोचना ज्यादा जटिल हो गयी, जिसे नब्बे के दशक के बाद के कवियों ने बहुत प्रखरता के साथ एवं गहरी आलोचनात्मक दृष्टि में अपनी रचनात्मकता में जगह दी।''[6]

इन कवियों ने सांप्रदायिक विषयों पर खूब कविताएं लिखी। बाबरी विध्वंस पर बहुत सी कविताएं लिखी गयी, गोधरा काण्ड पर भी और ऐसे ही अन्य विषयों पर भी। समग्रता में सभी कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को कम करने, ऐसे काण्डों के दुष्परिणाम और संस्कृति के क्षरण जैसे तत्वों को सामने लाने की कोशिश की। सियासत की भेंट चढ़ते हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों की सच्चाई का पर्दाफाश किया। यह सब प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्ष रूप से नव-उपनिवेशवाद की इस नीति का विरोध है जहाँ मुस्लिम या इस्लामिक आतंकवाद के नाम से शस्त्र व्यापार और अस्थिर सरकारों को बढ़ावा दिया जाता है तथा रेडिकल सरकारों को गठित कर अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को बदलने की कोशिश की जाती है। धार्मिक प्रतीकों के राजनीतिकरण पर कुँवर नारायण की कविता उल्लेखनीय है-

''अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं,
योद्धाओं की लंका है
'मानस तुम्हारा 'चरित' नहीं
चुनाव का डंका है।
हे राम, कहा यह समय,
कहाँ तुम्हारा त्रेता युग
कहाँ तुम मर्यादा पुरुषोत्तम,
और कहाँ यह नेता-युग।''[7]

बाजार के प्रपंच उलझ रहे जनमानस पर नब्बे के बाद की कविताओं की भूमिका दिखाई गयी। दरअसल कविता इस समय बाजार से खुद के लिए भी संघर्ष कर रही है। उसकी कविताओं का गहन प्रतिरोध बाजार के वास्तविक चरित्र को लोगों तक पहुँचाने की कोशिश में है। किन्तु इन कोशिशों के बावजूद

कविता का मूल स्वरूप अपनी जगह स्थिर है। वह बाजार की खामियों को तो गिनाती है, पर खुद भी बाजार में अपने लिए स्पेस तलाशती है। कविता पाठकों की घटती संख्या और बढ़ती प्रकाशन प्रतिस्पर्द्धाओं से चिंतित है। इसकी स्वीकृति इस रूप में दिखायी गयी है-

''एक खुदरा आदमी जो कविता भी खुदरा ही लिखता है
पर जोहजा है बाट विदेशी निवेश की'',

'संभवत: जिस असंतोष की अभिव्यक्ति बाजार के संदर्भ में कविताएं करती हैं, वैसे आक्रोश का स्वर उसके विरुद्ध नहीं सुनाई पड़ता है। कवि नरेश सक्सेना का कहना है, ''कविता की कसौटी के मानक मेरे लिए लगभग स्थिर रहे हैं। कविता कथ्य और संरचना चाहे कितनी भी बदल जाए उसकी मूल प्रतिज्ञाएं वही रहती हैं क्योंकि मनुष्य अपनी ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, करुणा, दया की भावनाओं और संवेदनाओं से सारे बाजारवाद और तकनीकी दबावों के बावजूद पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है।''[8]

यद्यपि कविता की रचना करने वाले मूल भाव ईर्ष्या, घृणा, प्रेम करुणा आदि नष्ट नहीं हो सकते और होने चाहिए भी नहीं। किन्तु उन भावनाओं का अवलम्ब समाज के उन तत्त्वों से बनना चाहिए जिनकी वजह से मानव पीड़ित है। गाँव में बहती नदी के प्रवाह में नायिका की साड़ी देखने से ज्यादा जरूरी उसी गाँव में आत्महत्या करते किसान की पीड़ा देखने की है, जबकि हम खाद्यान्न सुरक्षा में आत्म निर्भर होने की बात करते हैं। आज के दौर में बिखरते बचपन और बदलते रिश्तों के स्वरूप पर कविता अपना पक्ष रखती है, किन्तु इसकी ज्यादातर आवाजें विमर्शों के कण्ठ से निकलती है। विमर्श के मुद्दे कहीं भी नव-उपनिवेशवादी चिंताओं से जुदा नहीं हैं, किन्तु यह बात भी है कि वे अपनी प्राथमिकताओं में अलग है। कविता रिश्तों सम्बन्धी संरचना में पूँजीवादी दखल को दिखाती तो है किन्तु उसके पहले वह बहुत सी जगहों और बिन्दुओं से घूमकर आती है-

''पारस पत्थर और कल्प वृक्ष के बारे में नहीं जानता
मेरी आत्मा झाग के थपेड़ों में नहा रही है
मुझे औरत की अँगुलियों के बारे में पता है
ये अँगुलियाँ समुद्र की लहरों से निकलकर आती हैं
और एक थके-माँदे पस्त आदमी को
हरे-भरे गाते-दरख्त में बदल देती है
जिसे तुम त्वचा कहते हो वह नदी का बसन्त है
चाँदनी में बहता हुआ इच्छाओं का झरना
उसे समय से परे धकेलकर
जगह को गहराइयों में ले जाना खूब आता है।''[9]

यह पंक्तियाँ बेशक स्त्री-पुरुष के रिश्तों, स्त्री की गरिमा को आज के समय में व्याख्यायित करती है, किन्तु समस्या यह है कि यह संवेदना सीधे तौर पर गैर कविता की पृष्ठभूमि वाले पाठकों से नहीं जुड़ पाती। इस समय का कवि एक साथ विभिन्न संवेदनाओं से प्रत्यावर्तित कविताओं को लिखता है। एक ओर कुदरत से साक्षात्कार कराने की कोशिश और दूसरी तरफ कथ्य को कहने की मंशा के बीच कविता दुरूह होने लगती है। दरअसल प्रतीकों और प्रकृति का मोह महानगरीय जीवन और बढ़ते औद्योगीकरण की ऊब से पैदा हुआ है। औद्योगीकरण, महानगरीयता, प्रकृति नाश की नव-उपनिवेशवादी दृष्टि से मीमांसा करते हुए रवि शंकर उपाध्याय ने कविता के संदर्भ में लिखा, ''आज खुद को आधुनिक कहने वाला मनुष्य अपनी लिप्सा में इस कदर अंधा हो चुका है कि बेतहाशा वह प्रकृति की लूट में लगा है। यह लूट इतना भयंकर रूप लेती जा रही है कि प्रकृति का स्वरूप ही नष्ट होने की कगार पर है। इसका चेहरा विकृत किया जा रहा है। दुनिया के विकसित राष्ट्र यदि विकास के इसी स्वरूप को बनाये रखें तो अगली शताब्दी जंगल विहीन होगी, नदियां रेल की ढूंह बन चुकी होंगी और भूमि बंजर।''[10]

प्रस्तुत प्रसंग में इस एक बिन्दु को बताना भी ठीक है कि इस समय कविता ने असमानता को विषय बनाया है। असमानता कविता का परंपरागत विषय रहा है। किन्तु कविता की चिंतन प्रक्रिया में इन विषयों के आधार बदलते रहे हैं। जहाँ नब्बे के बाद की कविता का आधार बाजार से पैदा होने वाली असमानता है तो उसके पहले की कविता व्यवस्था, विसंगति से बनने वाले वर्गीय अंतराल पर अपनी कलम चलाती है। प्रगतिवाद ने वर्गीय असमानता पर कविता लेखन की जिस परंपरा का प्रारंभ किया, वह सन् 1990 ई0 के बाद की कविता में नव-उपनिवेशवादी हस्तक्षेपों से उपजने वाली विसंगतियों से प्रेरणा पाने लगी। बाहर से देखने पर यह कविताएं असमानता की ही पीड़ा से उपजी हैं किन्तु उनकी चोट के माध्यम बदले है। जैसे आजादी से पहले की कविताओं में सामंतवादी व्यवस्था से असमानता की पीड़ा पैदा हुई थी। नव-उपनिवेशवाद से उपजी इसी अंतर्विरोधी स्थिति का साक्षात्कार प्रो0 कालीचरण स्नेही के दोहे करवाते हैं-

''हमसे कहते रोज जे, बुरे होत अंग्रेज
अपने बाल-गुपाल सब, अमरीका दिए भेज।''[11]

सांस्कृतिक विमर्शों से जुड़ी हुई समस्याओं को इस समय की कविता ने व्यापक स्तर पर उठाया है।

प्रकृति और अपने उजाड़ के मोह एवं पीड़ा में डूबी यह कविताएं 'नव-उपनिवेशवाद' का विरोध तो करती हैं किन्तु उसके विरुद्ध अपने समाज का आत्मशोधन करवाने की स्थिति में नहीं पहुँच पाती है। फिर भी सांस्कृतिक विमर्श और उसकी कविताएँ अपने समय की चिंताओं का सशक्त हस्ताक्षर है।

कुल मिलाकर यह माना जा सकता है कि आंशिक सीमाओं के साथ यह कविताएँ नव-उपनिवेशवाद का मुखर प्रतिरोध करती है। कविता समस्याओं का सूचीकरण नहीं है। जैसा कि शमशेर बहादुर सिंह ने कहा है-''कला कैलेण्डर की चीज नहीं है वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज है। जितनी ही अधिक वह उसकी अपनी निजी है, उतनी की कालान्तर में वह औरों की भी हो सकती है।''[12]

यही कारण है कि सांस्कृतिक विमर्श की कविताएं 'नव-उपनिवेशवाद' की चिंताओं का कलैण्डर नहीं जारी करती किन्तु वह उन तारीखों का जरूर दर्ज कराती हैं, जिन्होंने भारतीय समाज को विभिन्न स्तरों पर पूरी सघनता से प्रभावित किया।

सन्दर्भ

1. नया ज्ञानोदय, दिसंबर, 2019, भारतीय ज्ञानपीठ, (सम्पा0) मधुसूदन आनंद, पृ0 35
2. उत्तर औपनिवेशिक विमर्श और हिन्दी कविता, (सम्पा0) पी0रवि0, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, पृ0 49
3. आलोचना, अक्टूबर-दिसंबर 2015, (प्र0 सम्पा0) नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 81
4. लीलाधर मण्डलोई, नवे दशक के पूर्ववर्ती कवियों में धुर लोक उस तरह से नहीं था, वागर्थ, दिसंबर, 2012, (सम्पा0) शंभुनाथ, 36ए, शेक्सपीयर, सरिणी, कोलकाता, पृ0 16
5. हिन्दी कविता का समकालीन परिदृश्य और प्रो0 अरुण होता, वरिमा, दिसंबर 2012, पृ0 113
6. लांग नाइन्टीज को मात्र एक 'साहित्यिक कालखण्ड के रूप में, बद्री नारायण, वागर्थ, दिसंबर 2012, पृ0 35
7. कुँवर नारायण, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 154-155
8. कवि ने कहा, नरेश सक्सेना, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 10
9. चंद्रकांत देवताले, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ0 53
10. तद्भव, अप्रैल 2014, (प्र0 सम्पा0) अखिलेश, बी0 के0 आफसेट, दिल्ली, पृ0 234
11. हंस, दिसम्बर-2019, (सम्पा0) संजय सहाय, आकांक्षा प्रिंटर्स, दिल्ली, पृ0 41
12. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिन्दी कविता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 33